International Research Journal of Humanities, Language and Literature
Volume 5, Issue 11, November 2018 Impact Factor 5.401 ISSN: (2394-1642)
© Associated Asia Research Foundation (AARF) Publication
Website-www.aarf.asia, Email : editor@aarf.asia , editoraarf@gmail.com

मानसिक द्वंद के बीच झूलता कुरुक्षेत्र

डॉ. आरती पाण्डेय, सहायक प्राध्यापक
हिन्दी विभाग, गार्गी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
ई-मेल- arati.6007@gmail.com

शोध सारांश : 'कुरुक्षेत्र' रामधारी सिंह दिनकर की प्रबंधात्मक काव्य-कृति है। इस कृति में दिनकर की लोकचेतना राष्ट्रीयता तथा मानवतावादी धरातल से आगे बढ़ते हुए एक ऐसी समस्या पर केन्द्रित हो गई है जो विश्व की सबसे शाश्वत और ज्वलंत समस्या है। जिसकी पृष्ठभूमि राष्ट्रीय धरातल पर स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान हिंसा-अहिंसा की वरीयता का प्रश्न है और अन्तरराष्ट्रीय धरातल पर द्वितीय विश्वयुद्ध का। कुरुक्षेत्र की रचना के पीछे दिनकर का उद्देश्य ये था कि– अनेक तत्तकालीन जटिल समस्याएँ जो उनके मस्तिष्क में थी, उनको सुलझाना। इसके लिए कुछ माध्यम चाहिए था जो उन्हें महाभारत की युद्धोपरांत की घटना कुरुक्षेत्र के रूप में मिल गया। उन्हें अनुभव होने लगा कि युद्ध ही सभी समस्याओं कि जड है। मानवीय मस्तिष्क में उभरने वाले द्वन्द को भीष्म और युधिष्ठिर में देखा जा सकता है। दिनकर ने भीष्म और युधिष्ठिर के वार्तालाप के द्वारा इन तमाम समस्याओं पर प्रकाश डाला है। द्वापर के अंत में संसार के समक्ष जो समस्याएं थी, वे आज भी है। अत: उन समस्याओं पर प्रकाश डालने के लिए दिनकर जी ने कुरुक्षेत्र की रचना की है।

बीज शब्द : भुक्तभोगी, जागृति, उत्साह, अनुभूति, अस्तित्व, निर्भीक, प्रबंधात्मक, शाश्वत, विभीषिका, युधोपरान्त, प्रतिहिंसा, हिंसात्मक, सम्यवादी, वैयक्तिक, विषधारा, सौहार्द, प्रतिष्पर्धा, न्यायोचित, निरंकुशता, कटाक्ष, प्रज्वलित।

आमुख : रामधारीसिंह दिनकर हिन्दी जगत के एक नामी साहित्यकार है। उनकी प्रत्येक रचना मील का पत्थर साबित हुई है। कुरुक्षेत्र भी उनकी इन्हीं रचनाओं में से एक है। कुरुक्षेत्र उनकी एक ऐसी रचना है जिसमें युद्ध की विभीषिका के उपरांत मानवीय मष्टिक्ष में उभरने वाले प्रश्नों को उन्होंने दिखाया है। महाभारत की कथा को दोहराना मात्र उनका उद्देश्य नही है। कुरुक्षेत्र के निवेदन में दिनकर जी ने उद्देश्य को स्पष्ट रूप से प्रकाशित किया है– " कुरुक्षेत्र की रचना भगवान व्यास के अनुकरण पर नही हुई है और न महाभारत को दुहराना मेरा उद्देश्य था। मुझे जो कुछ कहना था, वह युधिष्ठिर और भीष्म का प्रसंग उठाए बिना भी कहा जा सकता था, किन्तु तब यह रचना, शायद प्रबंध काव्य के रूप में न उतर कर मुक्तक बन कर रह गई होती। तो भी,यह सच है कि इसे प्रबंधन के रूप में लाने की मेरी कोई निश्चित योजना नही थी। बात यो हुई कि पहले मुझे अशोक के निर्वेदन ने आकर्षित किया और ' कलिंग ' नामक कविता लिखते-लिखते मुझे ऐसा लगा, मानो, युद्ध की समस्या मनुष्य की सारी समस्याओं की जड़ हो। इसी क्रम में द्वापर की ओर देखते हुए मैंने युधिष्ठिर को देखा, जो ' विजय ', इस छोटे-से शब्द को कुरुक्षेत्र में बिछी हुई लाशों से तोल रहे थे। किन्तु यहाँ भीष्म के धर्म-कथन में प्रश्न का दूसरा पक्ष भी विद्यमान था। आत्मा का संग्राम आत्मा से और देह का संग्राम देह से जीता जाता है। यह कथा युद्धांत की है। युद्ध के

आरम्भ में स्वयं भगवान ने अर्जुन से जो कुछ कहा था, उसका सारांश भी अन्याय के विरोध में तपस्या के प्रदर्शन का निवारण ही था।"[1]

दिनकर सुधार की अपेक्षा क्रान्ति में विश्वास रखते हैं। उनका मानना है कि यदि कोई आपके साथ हिंसात्मक व्यवहार कर रहा है तो उसका सामना आप कब तक हांथ जोड़कर कर पाएंगे। हिंसा का सामना प्रतिहिंसा से ही हो सकता है। तभी तो वे कहते हैं-

"कौन केवल आत्मबल से जूझकर
जीत सकता देह का संग्राम है?
पाशविकता खंग जब लेती उठा
आत्मबल का एक वश चलता नही।"[2]

जहाँ एक ओर दिनकर ने ध्वंस और नाश की कविताएँ लिखी है तथा क्रान्ति का बिगुल बजाकर हिंसा का समर्थन किया है किन्तु वहीं दूसरी ओर समय और पारिस्थियों ने उन्हें राष्ट्र की सीमाओं से परे "वसुधैव कुटुम्बकम" की भावना को भी जागृत किया है। इसलिए विश्व-शांति की भावना को केंद्र में रखते हुए वे "कुरुक्षेत्र" की रचना करते हैं। जिसमे भीष्म युधिष्ठिर को समझाते हुए कहते हैं-

"आशा के प्रदीप को जलाए चलो धर्मराज
एक दिन होगी मुक्त भूमि रण-भीति से।
भावना मनुष्य की न राग में रहेगी लिप्त,
सेवित रहेगा नही जीवन अनीति से।
हार से मनुष्य की न महिमा घटेगी और
तेज न बढ़ेगा किसी मानव का जीति से
स्नेह बलिदान होंगे पाप नरता के एक
धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति से।"[3]

रामधारी सिंह दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र' में ऐसे समाज की बात की है जहां समानता है, जहां किसी भी तरह का कोई भेदभाव नहीं। उनके विचार से उस युग में जीवन का मार्ग अत्यंत सहज था, सब लोग मिलकर सुख को भोगते थे, केवल अपने लिए कोई सुख भाग नही चुराता था। समाज में समरसता विद्यमान थी। सब लोग जी भर काम करते थे और आवश्यकता भर खाते थे। अपने को किसी अन्य से विशिष्ट नही बतलाते थे, कोई छिन्न नही था, सब समष्टि सूत्र में बंधे थे। किसी एक व्यक्ति का सुख समाज के सुख से भिन्न नही था, जन-जन में समता थी। किसी को अपने लिए कुछ अलग से संचय करने की चिंता नही थी, और न चिंता थी मानव समाज की रोटी का ग्रास चुराकर अपना घर भरने की। न कोई राजा था न कोई प्रजा, एक धर्म नीति का ही जन-जन के मन पर अनुशासन था। उस आदिम साम्यवाद को भूलकर मनुष्य किस शंका में फंसकर स्वार्थी और लोभी बनकर रह गया है। व्यक्ति वैयक्तिक भोग की ओर चल पड़ा, धन की चोरी, लूट - मार, शोषण, प्रहार, छीना-झपटी, बरजोरी बढ़ी और परिणामत: किस प्रकार सामाजिक वैषम्य की विषधारा में सारा समाज डूबकर तडप उठा है- इन सबको रामधारी सिंह दिनकर ने कुरुक्षेत्र में भीष्म के माध्यम से व्यक्त किया है-

"उसे भूल कर फंसा परस्पर की शंका में भय में
निरत हुआ केवल अपने ही हेतु भोग संचय में
इस वैयक्तिक भोगवाद से फूटी विष की धारा
तडप रहा जिसमें पड़ कर मानव समाज यह सारा।"[4]

समाज जब चारों तरफ से अंधेरगर्दी से घिर गया और जब समाज में शंका, भय, स्वार्थ, लोभ, छीना-झपटी, चोरी-चकारी तथा वैयक्तिक भोगवाद आदि की स्थिति आई तो लोगों में असुरक्षा की भावना घर करने लगी। तब लोगों ने स्वयं की सुरक्षा की बहुत कोशिश की लेकिन जब इससे भी काम न चला तो सामूहिक सुरक्षा के लिए लोगों ने अपने में से ही ऐसे व्यक्ति को चुनना शुरू किया जो बलशाली तथा शक्तिशाली हो और जो व्यक्तिगत भोगवाद से उनकी रक्षा कर सके। और तभी से राजा और राजसत्ता अस्तित्व में आएं। दासत्व युग का आरम्भ भी यही से माना जा सकता है। यह राजसत्ता रूप बदलती रही है पर समाज में वह तब से अब तक स्थापित है। रामधारी सिंह दिनकर ने ' कुरुक्षेत्र ' में इस दासत्व और राज-सत्तात्मक समाज व्यवस्था की पोल खोली है-

"तब आई तलवार शमित करने इस जगद्दहन को
सीमा में बांधते मनुज की नई लोभ-नागिन को।
और खंगधर पुरुष विक्रमी, शासक बना मनुज का
दंड नीति धारी त्रासक नर तन में छिपे दनुज का
****
गिरी गहन दासत्व गर्त के बीच स्वयं अनजाने
सह न सका जो सहज सुकोमल स्नेह सूत्र का बंधन
दंड नीति के कुलिश-पाश में अब है बद्ध वही जन
दे न सका नर को नर जो सुख भाग प्रीति से नय से
आज दे रहा वही भाग वह राज खंग के भय से।"[5]

आज नर समाज को नृपति चाहिए क्योंकि उन्हें अपनी सुरक्षा के लिए एक ताकतवर व्यक्ति चाहिए जो उन्हें पशुओं की भांति चला सके। उन्हें एक ऐसा राजा चाहिए जो उनकी नादानी को समझ सके और उनके कलह को समाप्त कर उन्हें सुरक्षा

का आभास करा सके। और जो उन्हें अन्याय से दूर रख उनके साथ न्याय कर सके। इस तरह उन्हें पारस्परिक सौहार्द और शांति बनाए रखने के लिए राजा की आवश्यकता हुई ताकि लोगों के बीच शांति और सद्भाव बना रहे। यदि ऐसा न होता तो लोग आपस में लड-झगड़ कर खून की नदियाँ बहा देते। इस स्थिति को व्यक्त करते हुए दिनकर कहते हैं कि-

"इससे बढकर मनुज वंश का और पतन क्या होगा?
मानवीय गौरव का बोलो और हनन क्या होगा?"[6]

जब से समाज में सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार की भावना आई है, चाहे वह भूमि के संबंध में हो चाहे धन के संबंध में, इस तरह वैयक्तिक भोग की प्रवृति बढ़ती गई है। व्यक्ति अधिक से अधिक सम्पत्ति पर अधिकार करने के लिए आतुर होता जा रहा है। इस दिशा में लोगो के बीच होड़ सी लग गई है। रामधारी सिंह दिनकर ने इस वैयक्तिक होड़ की प्रवृति को व्यर्थ बताया है क्योंकि उनके विचार से प्रकृति की संपदा पर सभी का समान अधिकार होना चाहिए न कि केवल किसी एक व्यक्ति का। इस विषय में वो कुरुक्षेत्र में कहते भी हैं कि-

"प्रभु के दिए हुए सुख इतने हैं विकीर्ण धरती पर
भोग सके जो इन्हें, जगत में कहां अभी इतने नर।
भूल से भी अम्बर तक यह जल कभी न घटने वाला
यह प्रकाश, यह पवन कभी भी नही सिमटने वाला
यह धरती फल फूल, अन्न धन रतन उगलने वाली
यह पालिका मृगत्य जीवन की अवटी सघन निराली
तुंग श्रृंग ये शैल कि जिनमे हीरक रत्न भरे हैं
ये समुद्र जिनमे मुक्त विद्रुम, प्रवाल बिखरे हैं।"[7]

कवि का मानना है कि जब प्रकृति में इतनी वैभव-सम्पदा बिखरी है इससे तो सभी का कल्याण हो सकता है फिर क्यूँ मानव-मानव में द्वंद मचा हुआ, बिना द्वंद, बिना किसी प्रतिष्पर्धा के भी तो इन सब चीजों का सुख भोग किया जा सकता है, बस जरूरत है तो मनुष्य में थोडा धैर्य बनाए रखने की, थोड़ी सहनशीलता की, थोडा दूसरों के प्रति समान भाव रखने की। यदि मनुष्य में ये गुण आ जाए तो बिना किसी विवाद के भी सभी वस्तुओं का उपयोग समान आधार पर करके धरती को स्वर्ग बनाया जा सकता है, विश्वशांति को कायम किया जा सकता है लेकिन ऐसा नही हो पा रहा है। प्राकृतिक साधनों का समानाधिकार के विचार के दिनकर भी पक्षधर है। उन्होंने 'कुरुक्षेत्र' में यह विचार भीष्म के माध्यम से रखा है। युधिष्ठिर को समझाते हुए भीष्म कहते हैं-

"धर्मराज यह भूमि किसी की नही क्रीत है दासी
है जन्मना समान परस्पर इसके सभी निवासी
है सबको अधिकार भृति का पोषक रस पीने का
विविध अभावों से अशंक होकर जग में जीने का
सबको मुक्त प्रकाश चाहिए सबको मुक्त समीरण
बाधा रहित विकास, मुक्त आशंकाओं से जीवन
उद्भिज-निभ चाहते सभी नर बढ़ना मुक्त गगन में
अपना चरम विकास ढूंढना किसी प्रकार भुवन में।"[8]

वर्तमान समय में स्थिति यह हो गई है कि मूलभूत और प्राथमिक समता और समानाधिकार भी मानव को उपलब्ध नही है। परिणामत: समाज में अशांति और संघर्ष भी देखने को मिलता है। यह संघर्ष, यह उपद्रव तथा समाज में शांति तभी स्थापित हो पाएगी जब मानव-मानव के बीच की विभेदता की खाई पाटी जाएगी, जब तक व्यक्ति-

व्यक्ति को अपना दुश्मन मानना नही बंद करेगा। और जब तक सभी मनुष्य समभाव से एक-दूसरे को न माने या फिर समान दृष्टि से एक-दूसरे को न देखे। जब तक वो एक-दूसरे को अपने सुख-दुःख का हिस्सा न बनायेंगे तब तक समाज में शांति स्थापित करना सूर्य को दीपक दिखाने जैसा होगा। कुरुक्षेत्र में दिनकर भीष्म के मुख से यह कहवाते भी हैं-

"जब तक मनुज-मनुज का यह सुख-भाग नही सम होगा
शामित न होगा कोलाहल संघर्ष नही कम होगा।"[9]

आज स्थिति यह हो गई है कि जिस राजतन्त्र की स्थापना इस उद्देश्य की गई थी कि इससे समाज में शांति, सद्भावना, भाईचारा स्थापित होगा, किसी के साथ कोई अन्याय नही होगा, सभी मनुष्य को सुरक्षित तथा निडर होकर जीवन जीने का अवसर मिलेगा किन्तु यहाँ उसके विपरीत होने लगा। वही राजतन्त्र जिसका निर्माण जनता ने अपनी सुरक्षा के लिए किया था वही राजतन्त्र उनके साथ मनमानी करने लगा, उन्हें पशुओं के समान हांकने लगा, लोगों को उनकी सीमाओं में बंधने लगा, उनके ऊपर अपने विचार थोपने लगा, उन पर अनुबंध लगाने लगा। इस तरह वो अपनी मनमानी करने लगा। रामधारी सिंह दिनकर ने राज्य को एक बंधन माना है। कुरुक्षेत्र में भीष्म के द्वारा वह कहलाते भी है-

"कौन यहाँ राजा किसका है? किसकी कौन प्रजा है?
नर ने होकर भ्रमित स्वयं ही यह बंधन सरजा है।"10

दिनकर का मानना है कि राजा को या फिर शासक को धर्मध्वजधारी होना चाहिए, प्रजा का पालक होना चाहिए, प्रजा का हितैशी होना चाहिए, प्रजा के प्रति

पितातुल्य होना चाहिए ताकि प्रजा उसके संरक्षण में स्वयं को सुरक्षित महसूस करें। यदि राजा ही आतताई, अन्याई,कर्तव्य-विमुख हो जएगा तो ऐसे में प्रजा या फिर समाज के लोगों का विश्वास उस पर से जाता रहेगा और जिस दिन समाज के भीतर से यह डर समाप्त हो जाएगा समाज या फिर प्रजा उसका विरोधी हो जाएगा। ऐसे प्रजा या फिर सामाजिक लोग राजा के विरुद्ध में विद्रोह की बिगुल बजा देंगे। और ऐसी स्थिति में न्यायोचित स्वत्व की प्राप्ति के लिए जनता के संघर्ष को पाप नही माना जा सकता है। कुरुक्षेत्र में भीष्म के द्वारा युधिष्ठिर को समझाते हुए उन्होंने कहा भी है-

"न्यायोचित अधिकार मांगने से न मिले तो लडके
तेजस्वी छीनते समर को जीत या कि खुद मरके
किसने कहा पाप है समुचित स्वत्व पाप हित लड़ना
उठा न्याय का खंग समर में अभय मारना मरना।"[11]

कवि का मानना है कि शासक या फिर राजा के निरंकुशता से तंग आकर, उसके शोषणों से, उसकी उपेक्षा, उसके दमन, उसके अपमानो, उसके अन्याय, यहाँ तक कि उसके कटूक्तियों या फिर सरभेदक व्यंग-बांडो से परेशान होकर यदि जनता की सहनशीलता की बांध टूट पड़े और वो राजा या फिर शाषक पर कहर बन कर बरस पड़े तो उसमे उस व्यक्ति विशेष या फिर प्रजा या फिर समाज का कोई दोष नही होगा उसका जिम्मेदार सिर्फ और सिर्फ वो शाषक या फिर वो राजा ही होगा। इस तरह जनता में क्रांति की भावना के जन्म लेने पर जब शांति सत्ता द्वारा शांति स्थापना की कोशिश की जाती है तो वह युद्ध का सृजन करती है। इस सम्बन्ध में कुरुक्षेत्र में भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं-

"कर पाता यदि मुक्त हृदय को मस्तक के शासन से

उतर पकड़ता बांह दलित की मंत्री के आसन से
राजद्रोह की ध्वजा उठाकर कहीं प्रचारा होता
न्याय-पक्ष लेकर दुर्योधन को ललकारा होता।"[12]

युद्धों का इतिहास तो अत्यंत प्राचीन है। परमाणु अस्त्रों के इस युग में युद्धों ने पूरे विश्व को प्रभावित किया है। क्या मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ, नीतिशास्त्री, अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, कवियों-लेखकों इसने सबको चिंतित तथा व्द्वेलित किया है। युद्ध की भयावहता ने तथा उसकी विभीषिका ने युद्ध की शांति के प्रश्न को लेकर सबको विचलित किया है। रामधारी सिंह दिनकर भी इस तरह के प्रश्नों से जूझते रहे हैं तथा उनके मन-मस्तिष्क को भी इस तरह का प्रश्न बेधता रहा है जोकि कुरुक्षेत्र में स्पष्ट नजर आता है। इसीलिए तो वे कहते हैं-' द्रोहाग्नि का मूल विश्व मानव के निर्दोष हृदय में नही हो सकता, समुदाय नही लड़ना चाहता, युद्ध कि विषैली लपटें व्यक्तियों की सांस से ही फैलती है।' इस तरह उनका मानना है कि व्यक्ति राग-द्वेष ही सामूहिक युद्ध में परिणित होती है। तभी तो वो कुरुक्षेत्र में भीष्म के द्वारा युधिष्ठिर को समझाते हुए कहवाते हैं-

"नारों में भी विकारों की शिखाएं आग- सी
एक से एक मिल जलती हैं, प्रंचडावेग से
तप्त होता क्षुद्र अन्तर्व्योम पहले व्यक्ति का
और तब उठता धधक समुदाय का आकाश भी
क्षोभ से दाहक घृणा से गरल ईर्ष्या-द्वेष से
भट्ठियां इस भांति जब तैयार होती हैं
तभी युद्ध का ज्वालामुखी है फूटता
राजनीतिक उलझनों के ब्याज से
या कि देश-प्रेम का अवलम्ब ले

किन्तु सबके भूल में रहता हलाहल है वही
फैलता जो घृणा से स्वार्थ- भय विद्वेष से।"[13]

आज व्यक्ति दोहरा चेहरा लिए घूम रहा है बाहर से कुछ और भीतर से कुछ और ही है। इस तरह व्यक्ति हर जगह एक छलना रूप लिए घूम रहा है। नही बता सकते कि उसके भीतर स्नेह की निर्झर धारा बह रही है या फिर युद्ध की अग्नि प्रज्वलित हो रही है। मानव का यह रूप या फिर यह स्वाभाविक गुण आज के युग में काफी घातक सिद्ध हो रहा है। कुरुक्षेत्र में दिनकर भीष्म के माध्यम से शांति का छलना रूप बताते हुए युधिष्ठिर को इससे बचने के लिए सावधान करते हैं-

"आनन सरल वचन माध्यम है, तन पर शुभ्र वसन है
बचो युधिष्ठिर इस नागिन का विष से भरा दशन है
यह रखती परिपूर्ण नृपों से जरासंध की कारा
शोणित कभी कभी पीती है तृप्त अश्रु की धारा।"[14]

कवि का मानना है कि बाह्योचारों से वास्तविक शांति नही हो सकती, यदि किसी भी तरह भय या फिर दबाववश शांति आती भी है तो वो बस कुछ क्षण की होती है, कृत्रिम होती है। ऐसी शांति कभी स्थाई नही हो सकती। इसके अतिरिक्त दिनकर जी उस शांति को भी शांति नही मानते जो शस्त्रों के द्वरा आरोपित की जाती है ताकि इसी आधार पर शोषण जारी भी रहे और शांति का दिखावा भी बना रहे। ऐसे शासको तथा राजा पर कटाक्ष करते हुए दिनकर भीष्म के द्वारा कहलाते है-

"सच है सत्ता सिमट-सिमट
जिनके हांथों में आई

शांति भक्त वे साधू पुरुष
क्यों चाहे कभी लड़ाई
और जिन्हें इस शांति व्यवस्था में
सुख भोग सुलभ है
उनके लिए शांति ही जीवन
सारा सिद्धि दुर्लभ है।"[15]

सत्य, अहिंसा, प्रेम आदि नही रामधारी सिंह दिनकर जी के विचार से शांति का आधार तो सामाजिक समरसता ही हो सकती है। और समाज में जब समानता और न्याय के कारण शांति आती है तो वास्तव में वही असली शांति होती है। समानता और न्याय-व्यवस्था की यह व्यवस्था जिस देश, जिस राष्ट्र में होती है वो देश, वो राष्ट्र अवश्य ही प्रगति करेगा और विश्व शांति को जन्म देगा। तभी तो दिनकर कहते हैं-

"ऐसी शांति राज्य करती है तन पर नही हृदय पर
नर के ऊंचे विश्वासों पर श्रद्धा भक्ति प्रणय पर।"[16]

निष्कर्ष : निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि रामधारी सिंह दिनकर अपने युग की विकट परिस्थितियों पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है। आज भले ही मानव प्रगति और विकास का दम्भ भरे किन्तु मानवीयता के स्तर पर वो आज भी पिछड़ा हुआ है। आज भी मानव-मानव का दुश्मन बना हुआ है, आज भी इंसानियत कहीं कोने में बैठी विलाप कर रही है, लोगों की विचारधाराओं का पारस्परिक टकराव आज भी बना हुआ है, ईर्ष्या-द्वेष, युद्ध की विभीषिका आदि भयंकर समस्याएँ आज भी समस्त विश्व में विद्यमान हैं। दिनकर का मानना है कि इन सभी विश्वव्यापी समस्याओं का समाधान

करके ही, इन सबसे छुटकारा पाकर ही मानव-जाति अपनी उन्नति का द्वार खोल सकता सकता है और एक सुंदर राष्ट्र का निर्माण कर सकता है।

संदर्भ

1. कुरुक्षेत्र- पृष्ठभूमि से, रामधारी सिंह दिनकर
2. कुरुक्षेत्र- रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ 19
3. कुरुक्षेत्र- रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ 107-108
4. वही, पृष्ठ 77
5. वही, पृष्ठ 84-85
6. वही, पृष्ठ 86
7. वही, पृष्ठ 78
8. वही, पृष्ठ 76
9. वही, पृष्ठ 77
10. वही, पृष्ठ 24
11. वही, पृष्ठ 24
12. वही, पृष्ठ 51
13. वही, पृष्ठ 14-15
14. वही, पृष्ठ 31
15. वही, पृष्ठ 90
16. वही, पृष्ठ 23
17. दिनकर साहित्य में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति- डॉ. रमा रानी सिंह
18. आधुनिक कवि एक विमर्श- डॉ. हरीश अरोड़ा